

॥ अथ तृतीयोऽध्यायः ॥

संस्कारपर्व-माहात्म्य प्रकरण

प्रतिपाद्यं तृतीयस्य श्रोतुमुक्ता दिनस्य ते।
सोत्सुकं नियते काले प्राप्ताः सर्वे यथाक्रमम् ॥ १ ॥
स्थानेषु नियतेष्वेव समासीनास्तथाऽभवन्।
वर्षयन्निव पीयूषमृषिः कात्यायनस्तदा ॥ २ ॥

टीका—तीसरे दिन के प्रवचन-प्रतिपादन सुनने के लिए सभी आतुर थे, सो नियत समय पर सभी जिज्ञासु उत्सुकतापूर्वक पहुँचे और अपने नियत स्थान पर यथाक्रम आसीन हो गए। ज्ञानामृत बरसाते हुए महर्षि कात्यायन बोले— ॥ १-२ ॥

कात्यायन उवाच
जिज्ञासवो नरस्त्वेष वर्तते पशुरप्यथ।
पिशाचोऽपि तथा देवो महामानव एव च ॥ ३ ॥
सीम्निप्रजननस्याथ चोदरस्यापि ये नराः।
मग्नाश्चिन्तातुराश्चापि नरास्ते पशवा मताः ॥ ४ ॥
तेषां सर्वस्वमस्त्येषा लघ्वी स्वार्थरतिः सदा।
लोभमोहातिरिक्तं न पश्यन्त्येते किमप्यतः ॥ ५ ॥
प्रदर्शने विलासे च सुखं तेऽनुभवन्ति हि।
नाभ्यां परं किमप्येषां लक्ष्यं भवति दूरगम् ॥ ६ ॥

टीका—कात्यायन बोले, जिज्ञासुओ मनुष्य पशु भी हैं, पिशाच भी, मान्य मानव भी और देवता भी। पेट और प्रजनन की छोटी परिधि में सोचने और करने में निमग्न रहने वाले नर-पशु हैं। उनके लिए संकीर्ण स्वार्थपरता ही सब कुछ है। लोभ और मोह के अतिरिक्त और कुछ उन्हें सूझता ही नहीं। विलास और प्रदर्शन में ही उन्हें सुख मिलता है। इसके आगे इनका कोई और दूरगामी लक्ष्य नहीं ॥ ३-६ ॥

दर्पो नरपिशाचेषु सदा छत्रायते ततः।
अनाचारेषु पश्यन्ति दुष्कृत्येषु तथैव च ॥ ७ ॥
आतंकेषु च ते पूर्तिमहंकारस्य स्वस्य तु।
अनुभवन्ति रसं दिव्यं परेषां पीडने शठाः ॥ ८ ॥
मर्यादोल्लंघने शौर्यं पश्यन्त्यपि पराक्रमम्।
पिशाचा एव ये भ्रष्टचिन्तनाचारवर्जिताः ॥ ९ ॥
टीका—नर-पिशाचों पर दर्प छाया रहता है। वे आतंक,

अनाचार और दुष्कृत्यों में अपने अहंकार की पूर्ति देखते हैं। उत्पीड़न में उन्हें रस आता है। मर्यादा भंग करने में उन्हें शौर्य-पराक्रम प्रतीत होता है। भ्रष्ट चिन्तन और दुष्ट आचार वालों को मनुष्य शरीर में पिशाच ही समझना चाहिए ॥ ७-९ ॥

देव संस्कृति के संस्कार-महत्ता प्रकरण का शुभारंभ करते हुए सत्राध्यक्ष मानव की गुण, कर्म और स्वभाव के आधार पर विवेचना करते हुए उसका वर्गीकरण भिन्न-भिन्न वर्गों में करते हैं। नर पामर का अर्थ है पशु प्रवृत्तियों में निरत पेट-प्रजनन की सीमा में आबद्ध व्यक्ति। नर-मानव का अर्थ है वह व्यक्ति, जिसमें पारिवारिकता और सामाजिकता के साथ जुड़े हुए अनुबंधों के प्रति विश्वास और परिपालन का साहस है। वस्तुतः व्यक्तित्व के स्तर की उत्कृष्टता ही मानवी वरिष्ठता की कसौटी है। मानवी काया का चोला तो हरेक का एक जैसा ही होता है।

नर-पशु हर समय अधिक कमाने, संचय करने और खाने-कुतरने की ललक में लगे दिखाई दे सकते हैं। अनौचित्य की सीमा लाँघकर प्रजनन यौन स्वेच्छाचार के क्षेत्र में वे पशुओं को भी पीछे छोड़ देते हैं। जो भी वैभव दूसरों को शोषण कर पिशाच की भूमिका निभाते हुए निर्दयतापूर्वक संचित करते बन पड़ा है, उसे वे स्वयं व परिवार जनों तक ही सीमाबद्ध मानकर उसके उपभोगवादी प्रदर्शन में निरत रहते हैं।

चरित्रनिष्ठा ही मनुष्यता है। जिसमें अवांछनीय लिप्साओं के नियमन एवं आदर्शों के कार्यान्वयन का साहस भरा पराक्रम है, वही नर मानव से देवमानव, नर-नारायण, भूसुर, ऋषि की भूमिका निभाता देखा जा सकता है।

मानव जन्म लेने के बाद संचित कषाय-कल्मषों के आवरण को हटाकर स्वयं को निर्मल बना, देव मानव बनाने की भूमिका में प्रवेश करने की प्रक्रिया संस्कारों के माध्यम से संपन्न होती है। इसके अभाव में तो सामान्य जनमानस पर कुसंस्कारों का कुहासा ही छाया देखा जा सकता है। नरपशु, नरपिशाच, नरपामर इसी श्रेणी के व्यक्ति कहलाते हैं।

४.२० प्रज्ञोपनिषद्

आलंकारिक रूप से असुरों का काला मुँह मुख से बाहर निकले हुए दाँत, पैने नाखून और सिर पर सींग चित्रित किए जाते हैं। इस प्रकार की शक्ल-सूरत के प्राणी कहीं नहीं पाए जाते। इस आलंकारिक चित्रण में यही बताया गया है कि असुर-प्रकृति के मनुष्यों का मुख दुष्कर्मों की कलंक-कालिमा से काला होता है। वे पेटू, स्वार्थी, लोभी, कृपण और संग्रही होते हैं, उनके बड़े दाँत उचित-अनुचित सबको उदरस्थ करने के लिए मुख की मर्यादा से बाहर निकले रहते हैं। हाथों में बड़े नाखूनों का होना हिंस्र पशुओं की नीति अपनाकर आक्रमणकारी, आतताई कुकृत्यों में संलग्न होने की दुष्प्रवृत्ति को प्रकट करता है। इस दुष्ट परंपरा को असुर संस्कृति को पशु-प्रवृत्ति को अपनाने वाले लोगों की कमी नहीं। रामायण में इन्हीं को असंत बताया गया है।

पालयन्ति नरा धर्मं कर्तव्यं स्वं च सर्वदा।

पोषयन्ति सदा शीलं नीतिमर्यादयोरपि ॥ १० ॥

अनुभवन्ति महत्त्वं ते सहकारं श्रयन्ति च।

सद्भावमधिकारे ते नोत्काः कर्तव्यबुद्धयः ॥ ११ ॥

व्यवहरन्ति तथाऽन्यैस्ते यथा स्वस्मै प्रियो भवति।

व्यवहार, स्तरं तं ते निर्वाहस्याश्रयन्ति तु ॥ १२ ॥

उपलब्धो यथाऽन्यैस्तु ते विदन्ति भविष्यति।

ईर्ष्या प्रदर्शनैरत्र विलासैः संग्रहैरपि ॥ १३ ॥

उत्पद्यन्ते विग्रहाश्च सुखशान्तिविनाशकाः।

गृध्रवो वैभवं प्राप्तुमर्पयन्ति हि जीवनम् ॥ १४ ॥

मानवस्य गरिष्ठास्तु येषां बोधोऽस्ति ते नराः।

उत्कृष्ट चिंतने लग्नाः कर्तृत्वेऽप्युत्तमे सदा ॥ १५ ॥

टीका—मनुष्य अपने कर्तव्यधर्म का पालन करते हैं।

शील पालते और नीति-मर्यादा का महत्त्व समझते हैं। सद्भाव और सहकार का आचरण करते हैं। अधिकार पर कम और कर्तव्य पर अधिक ध्यान देते हैं। दूसरों के साथ वैसा व्यवहार करते हैं, जैसा अपने लिए प्रिय है। उसी स्तर का निर्वाह अपनाते हैं, जैसा कि अधिकांश लोगों को उपलब्ध है। वे जानते हैं कि संग्रह, विलास और प्रदर्शन से ईर्ष्या उत्पन्न होती है और विग्रह पनपते हैं। लालची, वैभव संपादन पर ही बहुमूल्य जीवन न्यौछावर कर देते हैं, पर जिन्हें मानवी गरिमा का बोध है, वे उत्कृष्ट चिंतन और आदर्श कर्तृत्व में निरत रहते हैं ॥ १०-१५ ॥

मानवी चेतना के तीन स्तरों के रूप में माताल लोक, भूलोक और स्वर्गलोक की आलंकारिक विवेचना की जाती है। रहते तो ये सब धरती पर हैं व काया भी सबकी मानवी होती है, किंतु इनकी प्रकृति भिन्न-भिन्न होती है। अहंकारी, आक्रामक, कालिका से पुते, लोभी, लालची, उद्धत आचरण वाले हेय स्तर का जीवन जीने वाले नर-पिशाच पाताल

लोकसेवी कहे जाते हैं। ये स्वयं जलते औरों को जलाते, स्वयं कुढ़ते औरों को कुढ़ाते हैं। भूलोक पर मानवी गरिमा में विश्वास रखने वाले नर मानवों का निवास होता है। मनुष्य अर्थात् सभ्य, शिष्ट, सज्जन, शालीनता एवं सहकारिता से प्रेम करने वाला। मर्यादा में रहने व जिम्मेदारियों को समझने-निबाहने वाला। वह दूसरों का सम्मान करता व हिल-मिलकर, मिल-बाँटकर रहने, खाने की नीति में विश्वास रखता है।

विशेषताभिरेताभिर्युक्ता एव तु मानवाः।

वक्तुं शक्या वसन्त्यत्र मर्त्यं देहे हि देवताः ॥ १६ ॥

भगवानत्र प्राकट्यं याति देहे सदैव सः।

मनुकार्येषु ये लग्ना अभिनंद्येषु संततम् ॥ १७ ॥

उपक्रमेषु पुण्योपकारयो रसबोधिनाः।

आत्मनो जगतश्चाऽपि कल्याणार्थं तपो रताः ॥ १८ ॥

कष्टानां सहने हर्षो येषां ते भूसुरा मताः।

उदारमानसा मर्त्याः करुणामूर्तयोऽनघा ॥ १९ ॥

ऋषिर्मनीषी देवात्माऽवतारो वा निगद्यते।

महामानव इत्येष समुदायो जनैरिह ॥ २० ॥

टीका—ऐसी विशेषता से युक्त लोगों को ही सच्चा मनुष्य कहना चाहिए। मनुष्य शरीर में ही देवता रहते हैं। इसी में भगवान् प्रकट होते हैं। जो अनुकरणीय-अभिनंदनीय बनाने वाले उपक्रमों में निरत रहते हैं, जिन्हें पुण्य-परोपकार में रस आता है और आत्म-कल्याण एवं विश्व-कल्याण के लिए तपश्चर्या रत रहने, कष्ट सहने में प्रसन्नता होती है। ऐसे दयालु, निष्पाप, उदारमना लोगों को भूसुर धरती का देवता कहते हैं। इसी समुदाय को महामानव ऋषि, मनीषी, देवात्मा एवं अवतार कहते हैं ॥ १६-२० ॥

स्वर्गलोक के निवासी देवता कहलाते हैं। उत्कृष्टता का नाम ही स्वर्गलोक, ऊर्ध्वलोक है। देवता और कोई नहीं, मनुष्य शरीर में निवास करने वाली सत्प्रवृत्तियाँ ही हैं। देवता की एक शब्द में परिभाषा करनी हो, तो उसे देने की प्रवृत्ति का प्रतिनिधित्व कहा जा सकता है। देव-प्रकृति की उमंगें अंदर से उठने लगे अर्थात् अपनी आवश्यकताएँ हँसते-हँसते पूरी करने के साथ-साथ अन्य असंख्यों की सहायता कर सकने की आकांक्षा अंदर से जन्म लेने लगे। अंतःकरण का उदात्त होना अपने आप में इतना बड़ा सौभाग्य है कि उसके उपरांत विलास, वैभव का, सुविधा-साधनों की संपन्नता का, होना न होना कुछ अर्थ नहीं रखता। देवता बदले में न कुछ चाहते हैं, न स्वीकारते हैं, इसलिए वे पूजे जाते हैं। मनुष्य में सदैव अन्य स्तरों की तरह देवत्व भी विद्यमान रहा है। चेतना की यह वरिष्ठ स्थिति ही मानवी सत्ता की प्रगति का मूल कारण रही है।

भवन्ति मानवाः प्रायः समाना एव यद्यपि।

वातावृत्या च संगत्या गच्छन्त्युच्चैः पतन्त्यधः ॥ २१ ॥

टीका—मनुष्य प्रायः सभी एक जैसे होते हैं। वातावरण एवं संगति के प्रभाव से वे ऊँचे उठते या पतित होते हैं ॥ २१ ॥

विद्यैवैषा मनुष्यस्य संस्कारित्वं स गौरवम्।

विदधाति तदाधारात् समाजो व्यक्तिरेव च ॥ २२ ॥

श्रेयः सौभाग्ययोगं च प्राप्नुतो मानवेप्सितम्।

अतः श्रेष्ठं धनं विद्या सौभाग्यं चाऽपि कीर्तिता ॥ २३ ॥

टीका—विद्या ही मनुष्य की सुसंस्कारिता को गरिमा प्रदान करती है और उसी आधार पर व्यक्ति तथा समाज को श्रेय सौभाग्य का सुयोग प्राप्त होता है, जो मानव मात्र का लक्ष्य है। अतः निश्चित रूप से विद्या एक श्रेष्ठ धन है व मानव मात्र का सौभाग्य स्वरूप है ॥ २२-२३ ॥

आकृति-प्रकृति भिन्न होते हुए भी जन्मोपरांत सभी मनुष्य प्रतिभा, गुण-कर्म-स्वभाव की दृष्टि से एक ही स्तर के पाए जाते हैं। जैसा परिवेश होता है एवं जैसे व्यक्तियों का साथ मिलता है, वैसा ही उस व्यक्ति का विकास या अधःपतन होता है। अनेकों उदाहरण मिलते हैं, जिनमें जन्मजात प्रतिभा उच्चस्तरीय होते हुए भी वैसा पोषक वातावरण परिवार संस्था एवं समाज परिकर में न मिल पाने के कारण उनका विकास समुचित नहीं हो सका। उल्टे उसके स्थान पर गलत दिशा मिलने के कारण प्रवाह उलटी दिशा में चला गया। इसके विपरीत ऐसे भी उदाहरण हैं, जिनमें सही संस्कार मिलते रहने की सतत्-व्यवस्था, सत्संगति एवं वातावरण की श्रेष्ठता ने श्रेष्ठ व्यक्तियों के निर्माण में मदद की, जबकि प्रतिभा व सुख-सुविधा के साधनों की दृष्टि से वे पूर्व में गई-बीती परिस्थितियों में थे।

शिक्षण के दो वर्ग हैं। एक भौतिक उपार्जन उपभोग, दूसरा व्यक्तित्व का विकास-परिष्कार। समग्र शिक्षण के लिए दोनों ही वर्ग समुचित परिस्थितियाँ चाहते हैं। शिल्प-उद्योग भर सिखाने हों, भौतिक जानकारी देनी हों, तो जिसे जहाँ सुविधा हो, वहाँ शिक्षण की व्यवस्था की जा सकती है। व्यक्तित्व निर्माण हेतु वातावरण की अनुकूलता चाहिए। अन्यथा शिक्षण के नाम पर व्यक्ति को जानकारी भरा मिलती रहेंगी, सुसंस्कारिता बढ़ाने वाली, मानव को उसकी गरिमा के अनुरूप श्रेय पद दिलाने वाली विद्या रूपी संपदा मिलने का सुयोग न बन पड़ेगा।

विज्ञा एनां विश्वस्याऽनिवार्यत्वं महत्तथा।

आधारां प्रगतेः सार्वभौमाया देवसंस्कृतेः ॥ २४ ॥

मन्वाना जगदुर्विद्यावृद्धयैः प्राणपणैरपि।

यतितव्यं महत्पुण्यमिदं वै पारमार्थिकम् ॥ २५ ॥

धर्मकार्ये पुनीतेऽस्मिन् रतांस्तांस्तु गुरुन्बुधाः।

वदन्ति गणयन्त्यत्र धरित्र्या देवरूपिणः ॥ २६ ॥

टीका—विज्ञान इसे संसार की महती आवश्यकता, देव परंपरा और सर्वतोमुखी प्रगति का आधार मानते हैं। जगत में विद्या संवर्द्धन के लिए प्राण-पण से लग जाना सबसे बड़ा पुण्य-परमार्थ है। इस पुनीत धर्म कार्य में निरत लोगों को गुरुजन कहा जाता है। और धरती के देवताओं में गिना जाता है ॥ २४-२६ ॥

विद्या का उपार्जन व्यक्तित्व के संवर्द्धन एवं विकास हेतु अभीष्ट आवश्यकता मात्र ही नहीं है, यह सारे समुदाय की सर्वांगीण प्रगति का मूल आधार है। जिस समाज में विद्या से विभूषित देव मानव जितने अधिक होते हैं, वह उतना ही धन्य बनता है। विद्या एक ऐसी अक्षय संपदा है, जिसका तीनों कालों में नाश नहीं होता। वह जन्म-जन्मांतरों तक मित्र की तरह मनुष्य के साथ बनी रहती है। विद्या का प्रतिफल देव संस्कृति की मान्यतानुसार आर्थिक सफलता के रूप में नहीं देखा जाना चाहिए। विद्या नर मानव को देव मानव बनाती है, उसे सुसंस्कारित बनाती है, उसकी यही सबसे बड़ी देन है, जिसे किसी भी स्थिति में कम करके नहीं आँका जाना चाहिए।

ऋषि श्रेष्ठ यहाँ विद्यार्जन को जीवन का एक उपादान नहीं, अपितु सर्वश्रेष्ठ पुण्य सारी मानव जाति के प्रति परमार्थ कार्य कहते हैं। जो नर श्रेष्ठ विद्यादान का पुण्य कार्य करते हैं, उन्हें गुरुजन कहकर उनकी अभिवंदना की गई है, उन्हें भूसुर की उपाधि दी गई है। सामान्य शिक्षक, जो लौकिक जानकारी देते हैं एवं गुरुजन, जो अंतः के परिष्कार में समर्थ विद्या देते हैं, में अत्यधिक अंतर है। दोनों को भूलकर भी एक नहीं मानना चाहिए।

परमेश्वर जिन पर भी प्रसन्न होते हैं, उन्हें वे अधिक विचारशील, सद्भावना संपन्न और ज्ञान-परायण बनाते हैं तथा ज्ञानयोग में संलग्न होने की प्रेरणा देते हैं। संसार में सद्ज्ञान का प्रसार उनका मुख्य काम बन जाता है। प्राचीनकाल से लेकर अब तक के समस्त सच्चे ईश्वर भक्त, ऋषि, मुनि आजीवन इसी कार्य में लगे रहते हैं। गुरुकुल चलाने में, सद्ग्रंथों का प्रणयन करने में, यज्ञ आयोजनों में, कथा-प्रवचन कहने में, संस्कार और पर्वों की व्यवस्था में संलग्न रहकर वे संसार को ज्ञानवान बनाने के लिए ही प्रयत्न करते रहे हैं। प्रत्येक ईश्वर भक्त को सदा से यही प्रयत्न करना पड़ा है। वह चुप बैठ ही नहीं सकता। संसार में अज्ञानग्रस्त प्राणियों को देखकर उसकी अंतरात्मा में करुणा की अजस्र धारा बहे बिना रह ही नहीं सकती। अतएव उसे अपनी परिस्थितियों के अनुसार मानव-जाति को अधिक ज्ञानवान बनाने के लिए अपनी सामर्थ्य भर प्रयत्न एवं पुरुषार्थ करना ही पड़ता है।

४.२२ प्रज्ञोपनिषद्

ऐसे ही महापुरुषों को गुरुजन कहा गया है और उन्हें धरती के देवता की उपाधि दी गई है। देव-संस्कृति में गुरु-तत्त्व को बहुत महत्व दिया गया है। उनके प्रति निष्ठा रखने के लिए अध्यात्म-प्रेमियों को प्रेरणा दी गई है—

वंदे बोधमयं नित्यं गुरुं शंकररूपिणम्।

तुलसीदास जी के मतानुसार गुरु व्यक्ति नहीं एक शाश्वत शक्ति है, जो पात्रतानुसार व्यक्तियों में प्रतिबिम्बित होती है। शरीर नित्य नहीं है, इसलिए गुरु के संबोधन के पीछे किसी शरीर विशेष का आग्रह नहीं है। शंकररूपिणम् उसे इसलिए कहा गया, क्योंकि वह ज्ञान का कल्याणकारी उपयोग करता है। अंतः में स्थित आत्मतत्त्व को अनुभव कराने एवं ईश्वर का साक्षात्कार कराने में गुरु की प्रमुख भूमिका होने से उन्हें शिव रूप उद्बोधन उचित ही दिया गया है।

विद्याधनः पुलस्त्यः स पप्रच्छ मुनिपुंगवः।

कात्यायनं महर्षिं तं लोकमंगलकाम्यया ॥ २७ ॥

पुलस्त्य उवाच

बोध्यतां स उपायो नो देव! विद्यालये तु यः।

अतिरिक्ततयाऽधीतेर्विद्यालाभाय युज्यते ॥ २८ ॥

उच्चां शिक्षां समासाद्य केवलं नैतिकोऽपि तु।

नरः श्रद्धास्पदं स्थानं श्रेयसामधिकारिताम् ॥ २९ ॥

उपायास्ते विबोध्या नो यैः स्युः सर्वा हि व्यक्तयः।

नृपशुत्वपिशाचत्वप्राप्तेर्वै रक्षिताः स्वयम् ॥ ३० ॥

नरनारायणत्वं वा नरत्वं प्रापितुं भवेत्।

संभवं येन सिद्धयेच्च जीवो ब्रह्मैव नापरः ॥ ३१ ॥

टीका—लोकमंगल की कामना से विद्या के धनी ऋषिवर पुलस्त्य ने महर्षि कात्यायन से पूछा, हे देव वह उपाय बताइए, जिन्हें पाठशाला में अध्यापन कृत्य के अतिरिक्त भी विद्या लाभ करने के लिए प्रयोग में लाना पड़ता है। मात्र उच्च शिक्षा प्राप्त करने भर से ही किसी को श्रद्धास्पद श्रेयाधिकारी बनने का अवसर नहीं मिलता, अतः कृपया उन प्रयोगों को बताएँ, जिनके माध्यम से व्यक्ति को नर-पशु और नर-पिशाच बनने से रोका जा सके, नर-मानव और नर-नारायण के स्तर तक पहुँचाया जा सके, जिससे जीव ब्रह्म है, यह सिद्धांत व्यावहारिक रूप से सिद्ध हो जाए ॥ २७-३१ ॥

कात्यायन उवाच

दैवे तु समुदायेऽयं मनुष्योऽनेकशस्त्रिह।

सुसंस्कारयुतो नूनं क्रियते वृद्धिकाम्यया ॥ ३२ ॥

ताप्यते मानवो मध्ये प्रयोगाणां स ईदृशाम्।

अत्र षोडशवारं तु नश्येयुर्येन सञ्चिताः ॥ ३३ ॥

संस्कारा दूषिता दैववैशिष्ट्यस्यांकुराश्च ते।

उत्पद्येरन् मनुष्योऽयं देवत्वं यातु येन च ॥ ३४ ॥

संस्काराणां तथा धर्मानुष्ठानानां च विद्यते।

उपचारविधिः सर्वमान्यो लोके महत्त्ववान् ॥ ३५ ॥

टीका—कात्यायन बोले हे विद्वत्श्रेष्ठ देव समुदाय में मनुष्य को बार-बार सुसंस्कारित किया जाता है। हर व्यक्ति को सोलह बार ऐसे प्रयोगों के मध्य तपाया जाता है, जिनसे उनके संचित कुसंस्कार नष्ट हो सकें और दैवी विशेषताओं के अंकुर उग सकें, जिससे मनुष्य देवता बन सके। इसके लिए संस्कार धर्मानुष्ठानों के उपचार की महत्वपूर्ण प्रक्रिया सर्वविदित है ॥ ३२-३५ ॥

देव-संस्कृति की सबसे बड़ी विशेषता है, जन्म से लेकर मृत्यु तक मानव जीवन को सार्थक बनाने हेतु संस्कारों द्वारा सतत शोधन एवं आत्मसत्ता के अभिवर्द्धन की अभिनव व्यवस्था। यह उस विद्यारूपी विभूति की विद्या है, जो गुरुकुल शिक्षण प्रणाली का अंग रही है। संस्कृति के अंतर्गत जीवन क्रम में इन्हें इस प्रकार समाविष्ट कर दिया गया है कि यथा समय वांछित श्रेष्ठ संस्कार व्यक्ति को स्वयमेव मिलते रहें। वेदांत की एकोऽहं द्वितीयो नास्ति अयमात्मा ब्रह्म वाली मान्यता ऋषियों को इसी प्रतिपादन हेतु प्रेरित करती रही है कि व्यक्ति जो अनगढ़ पशु के रूप में जन्मता है, सुसंस्कारों द्वारा देवमानव के रूप में पदोन्नत किया जा सकता है।

आयुर्वेदिक रसायन बनाने की अवधि में उन पर कितने ही संस्कार डाले जाते हैं। कई बार कई प्रकार के रसों में उन्हें खरल किया जाता है और कई बार उन्हें गजपुट द्वारा अग्नि में जलाया, तपाया जाता है, तब कहीं वह रसायन ठीक तरह तैयार होता है और साधारण सी राँगा, जस्ता, ताँबा, लोहा, अभ्रक जैसी कम महत्व की धातु चमत्कारिक शक्ति-संपन्न बन जाती है। ठीक इसी तरह मनुष्य को भी समय-समय पर विभिन्न आध्यात्मिक उपचारों द्वारा सुसंस्कृत बनाने की महत्वपूर्ण पद्धति भारतीय तत्त्ववेत्ताओं ने विकसित की थी। उसका परिपूर्ण लाभ उस देशवासियों से हजारों-लाखों वर्षों से उठाया है। यों किसी व्यक्ति को सुसंस्कृत बनाने के लिए शिक्षा, सत्संग, वातावरण, परिस्थिति, सूझ-बूझ आदि अनेक बातों की आवश्यकता होती है। सामान्यतः ऐसे ही माध्यमों से लोगों की मनोभूमि विकसित होती है। इसके अतिरिक्त भारतीय तत्त्ववेत्ताओं ने मनुष्य की अंतःभूमि को श्रेष्ठता की दिशा में विकसित करने के लिए कुछ ऐसे सूक्ष्म उपचारों का भी आविष्कार किया है, जिनका प्रभाव शरीर तथा मन पर ही नहीं सूक्ष्म अंतःकरण पर भी पड़ता है और उसके प्रभाव से मनुष्य को गुण, कर्म, स्वभाव की दृष्टि से समुन्नत स्तर की ओर उठने में सहायता मिलती है।

मानव जीवन को पवित्र एवं उत्कृष्ट बनाने वाले आध्यात्मिक उपचार का नाम संस्कार है। महर्षि पाणिनी के अनुसार इस शब्द के तीन अर्थ हैं—(१) उत्कर्ष करने वाला

(उत्कर्षसाधनं संस्कारः) (२) समवाय अथवा संघात और (३) आभूषण। प्रत्येक मनुष्य जन्म के साथ कुछ गुण-अवगुण लेकर पैदा होता है। उस पर पूर्वजन्मों के विविध संस्कार छाए रहते हैं। वृद्धि के साथ उस पर नए-नए संस्कार भी पड़ते रहते हैं। अतः पुराने संस्कारों को प्रभावित करके उनमें परिवर्तन, परिवर्द्धन अथवा उनका उन्मूलन करना प्रतिकूल संस्कारों को विनष्ट कर अनुकूल संस्कारों का निर्माण करने का विधान ही संस्कार पद्धति कहलाता है। देव संस्कृति के अनुसार संस्कार १६ प्रकार के हैं, जिन्हें षोडश संस्कार कहते हैं। माता के गर्भ में आने के दिन से लेकर मृत्यु तक की अवधि में समय-समय पर प्रत्येक देव संस्कृति के आराधक को १६ बार संस्कारित करके, उसे देव मानव स्तर तक जा पहुँचने की प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष प्रभावी प्रेरणा दी जाती है। यह संस्कार पद्धति सूक्ष्म अध्यात्म विज्ञान की अतीव प्रेरणाप्रद प्रक्रिया पर अवलंबित है। ऋषियों ने अपनी आध्यात्मिक एवं मनोवैज्ञानिक शोधों के आधार पर इस पुण्य-प्रक्रिया का निर्माण किया है।

तत्र पुंसवनं नामकरणमन्नप्राशनम् ।
मुण्डनं चाऽपि दीक्षा च विद्याऽभ्यासस्तथैव च ॥ ३६ ॥
यज्ञोपवीतसंस्कारः पाणिग्रहणमेव च ।
वानप्रस्थो विवाहस्य जन्मनश्च दिनोत्सवौ ॥ ३७ ॥
ससमारंभमेते चेत्संस्कारा विहितास्ततः ।
व्यक्तिभ्यः परिवाराय समाजायापि प्रेरणा ॥ ३८ ॥
सुसंस्कारसमृद्धयर्थं मिलत्येव शुभावहा ।
क्रमेणाऽनेन भाव्यं च यथावंशपरंपराम् ॥ ३९ ॥
व्यवस्था कर्मकांडस्य विधेर्मन्त्रविधेस्तथा ।
एवं स्याच्च यथा तत्र स्याद्धि वातावृतौ शुभः ॥ ४० ॥
संचारः प्रेरणायास्तु सर्वमेतच्च मन्यते ।
तां चोपचरितुं युक्तं भावनायाः प्रगल्भताम् ॥ ४१ ॥

टीका—पुंसवन, नामकरण, अन्नप्राशन, मुंडन, विद्यारंभ, दीक्षा, उपनयन, विवाह, वानप्रस्थ, जन्मदिवसोत्सव, विवाह दिवसोत्सव आदि संस्कारों को समारोहपूर्वक करने से व्यक्ति, परिवार तथा समाज को सुसंस्कारिता संवर्द्धन की शिक्षा प्रेरणा मिलती है यह क्रम वंश परंपरा के साथ सदा चलना चाहिए। इन कृत्यों के कर्मकांड की विधि-व्यवस्था एवं मंत्र-प्रक्रिया ऐसी हो, जो उपस्थित वातावरण में उपयोगी प्रेरणा का संचार करे। उन्हें भावना क्षेत्र की प्रगल्भता के लिए समर्थ उपचार माना गया है ॥ ३६-४१ ॥

हमारी प्राचीन महत्ता एवं गौरव गरिमा को गगनचुंबी बनाने में जिन अनेक सत्प्रवृत्तियों को श्रेय मिला था, उसमें एक बहुत बड़ा कारण यहाँ की संस्कार पद्धति को भी माना जाता है। यह पद्धति सूक्ष्म अध्यात्म विज्ञान की अतीव प्रेरणाप्रद

प्रक्रिया पर अवलंबित है। वेद मंत्रों के सस्वर उच्चारण से उत्पन्न होने वाली ध्वनि तरंगें, यज्ञीय ऊष्मा के साथ संबद्ध होकर एक अलौकिक वातावरण प्रस्तुत करती है। जो भी व्यक्ति इस वातावरण में होते हैं या जिनके लिए उस पुण्य प्रक्रिया का प्रयोग होता है, वे उससे प्रभावित होते हैं। यह प्रभाव ऐसे परिणाम उत्पन्न करता है, जिससे व्यक्तियों के गुण, कर्म, स्वभाव आदि की अनेकों विशेषताएँ प्रस्फुटित होती हैं। संस्कारों की प्रक्रिया एक ऐसी आध्यात्मिक उपचार-पद्धति है, जिसका परिणाम व्यर्थ नहीं जाने पाता। व्यक्तित्व के विकास में इन उपचारों से आश्चर्यजनक सहायता मिलती देखी जाती है।

संस्कारों में जो विधि-विज्ञान हैं, उसका मनोवैज्ञानिक प्रभाव मनुष्य को सन्मार्गगामी होने के उपयुक्त बनाता है। संस्कार के मंत्रों में अनेक ऐसी दिशाएँ भरी पड़ी हैं, जो उन परिस्थितियों के लिए प्रत्येक दृष्टि से उपयोगी हैं। पुंसवन संस्कार के समय उच्चारण किए जाने वाले मंत्रों में गर्भवती के रहन-सहन, आहार-विहार संबंधी महत्वपूर्ण प्रशिक्षण मौजूद हैं। इस प्रकार विवाह में दांपत्य जीवन की, अन्नप्राशन में भोजन-छाजन की, वानप्रस्थ में सेवापरायण जीवन की आवश्यक शिक्षाएँ भरी पड़ी हैं। उन्हें यदि कोई प्रभावशाली वक्त। ठीक ढंग से समझाकर संस्कार के समय उपस्थित लोगों को बता सकें, तो जिनका संस्कार से संबंध है, उन्हीं को नहीं, वरन् दूसरे सुनने वाले लोगों को भी इस संदेश से आवश्यक कर्तव्यों का ज्ञान हो सकता है और वे भी जीवन को उचित दिशा में ढालने के लिए तत्पर हो सकते हैं।

वस्तुतः हर्षोत्सव के वातावरण में देवशक्तियों की साक्षी, अग्नि देव के सान्निध्य, धर्मभावना से अनुप्राणित वातावरण स्वजनों की उपस्थिति एवं भक्ति सिक्त कर्मकांड ये सब मिल-जुलकर संस्कारों से संबद्ध व्यक्ति को एक विशेष मनोभूमि में पहुँचा देते हैं। उस समय ली गई प्रतिज्ञा मन पर गहरा प्रभाव छोड़ती व व्यक्ति का कायाकल्प कर देती है।

व्यक्तिं कर्तुं सुसंस्कारयुतां ते षोडशाऽपि च ।
दश वा विहिता विज्ञैरुपचारास्तथैव तु ॥ ४२ ॥
भावनां तु समाजस्था समूहाश्रयिणीमपि ।
शालीनताऽनुकूलां च कर्तुं पर्वादि मन्यताम् ॥ ४३ ॥
प्रशिक्षणस्य चैतेषु मिलनार्चनयोरपि ।
ईशस्य विधेरस्ति समावेशो यमाश्रयन् ॥ ४४ ॥
लोकमानससंस्थास्ताः शक्या कर्तुं परम्पराः ।

बहूनि संति पर्वाणि दशमुख्यानि तेषु तु ॥ ४५ ॥
टीका—जिस प्रकार व्यक्ति को सुसंस्कारी बनाने के लिए षोडश अथवा दश उपचारों का विधान है, उसी प्रकार समाजगत सामूहिकता को शालीनता का पक्षधर बनाने के

४.२४ प्रज्ञोपनिषद्

लिए पर्व-आयोजनों का महत्व है। इनमें मिलन, पूजन, प्रशिक्षण की ऐसी विधि-व्यवस्था का समावेश है, जिनके सहारे सत्परंपराओं को लोकमानस में प्रतिष्ठित कराया जा सके। पर्व बहुत हैं, परंतु उनमें दस प्रमुख हैं ॥ ४२-४५ ॥

व्यक्तिगत दृष्टिकोण का परिष्कार करने के लिए जिस प्रकार पूजा-उपासना-पारिवारिक रीति-नीति को उत्कृष्ट बनाए रखने के लिए जिस प्रकार संस्कार प्रक्रिया है, ठीक उसी प्रकार समाज की समुन्नत और सुविकसित बनाने के लिए सामूहिकता, ईमानदारी, कर्तव्यनिष्ठा, नागरिकता, परमार्थ-परायणता, देशभक्ति, लोकमंगल जैसी सत्प्रवृत्तियाँ विकसित करनी पड़ती हैं। उन्हें सुस्थिर रखना होता है। यह भी बार-बार स्मरण दिलाते रहने वाला प्रसंग है। इसी प्रयोजन के लिए देव संस्कृति में पर्व-त्यौहार मनाए जाते हैं। इन्हें सामाजिक संस्कार प्रक्रिया ही समझना चाहिए। साधना से व्यक्तित्व, संस्कारों से परिवार और पर्वों से समाज का स्तर ऊँचा बनाने की पद्धति दूरदर्शिता पूर्ण है, इसे हजारों-लाखों वर्षों तक आजमाया जाता रहा है। प्राचीन भारत की महानता का श्रेय इन छोटी दीखने वाली, किंतु प्रवृत्तियों में प्रखरता उत्पन्न करने वाली धर्म के नाम पर प्रचलित विधि-व्यवस्थाओं को ही है।

पर्वों की रचना इसी दृष्टि से हुई, कि प्राचीनकाल की महान घटनाओं एवं महान प्रेरणाओं का प्रकाश जनमानस में भावनात्मक एवं सामूहिक वातावरण के साथ उत्पन्न किया जाए। इसके लिए कितने ही पर्व त्यौहार प्रचलित हैं। उनमें से देश, काल, पात्र के अनुसार जब जहाँ जिसको प्रधानता देने की आवश्यकता समझी जाती है, उन्हें प्रधान और शेष को गौण मान लिया जाता है, एक ही क्षेत्र में एक ही काल में प्रचलित सैकड़ों पर्वों का मनाया जाना संभव नहीं, उनमें से स्थिति के अनुरूप कुछ को ही चुनना पड़ता है। देव संस्कृति में वस्तुतः प्रत्येक तिथि और वार को पर्व माना गया है और उसे मनाने के लिए विशेष धार्मिक विधान भी बतलाया है। इनके सिवाए देवताओं, अवतारों, महापुरुषों की स्मृति अथवा जयंती के लिए भी त्यौहार नियत किए गए हैं। कुछ अन्य पर्व जैसे सक्रांति, ग्रहण कुंभ आदि आकाश स्थित ग्रहों के योग और उनसे पृथ्वी पर पड़ने वाले शुभाशुभ प्रभाव दृष्टिगोचर रखकर मनाए जाते हैं। मुख्य रूप से इनमें से दस पर्व प्रमुख रूप में मनाए जाने योग्य हैं, जिनका वर्णन सत्राध्यक्ष ने इसी प्रसंग में आगे किया है।

ऋषिगणों ने आदिकाल में त्यौहार की स्थापना मुख्यतः निम्नलिखित उद्देश्यों को लेकर की थी—(१) जनता में जागृति, सद्भावना, ऐक्य, संगठन की वृद्धि करना, लोगों को सुसंस्कृत, शिष्ट और सुयोग्य नागरिक बनाना, उनमें सच्ची

सामाजिकता की भावना उत्पन्न करना, (२) किसी विशेष अवसर पर बड़े यज्ञ के लिए। यद्यपि शास्त्रों के मतानुसार यज्ञ शब्द का अर्थ परोपकार के कार्यों के लिए होता है, तथापि वैदिककालीन पर्वों और उत्सवों में यज्ञ का अर्थ बड़े हवन से, सामूहिक धर्मानुष्ठान से ही लिया जाता है। (३) किसी विशेष ऋतु के परिवर्तन या फसल के तैयार होने पर सामाजिक समारोह के रूप में। (४) सर्वसाधारण के मनोरंजन और हृदयोल्लास प्रकाश के लिए। (५) किसी युग-प्रवर्तक महापुरुष, अद्वितीय कर्मवीर, शूरवीर, प्रणवीर, दानवीर, महान विद्वान, आदर्श प्रतापी का अथवा किसी महान राष्ट्रीय घटना की स्मृति मनाने के निमित्त।

हमारे तत्त्ववेत्ता, पूज्यपाद ऋषि-महर्षियों के, ऊपर बतलाए पाँचों उद्देश्यों के अनुकूल अनेक त्यौहार और पर्व के दिवस नियत कर दिए हैं और उन सब में लौकिक कार्यों के साथ धार्मिक तत्त्वों का ऐसा समावेश कर दिया है, ताकि उनसे हमें अपने जीवन-निर्माण में सहायता मिले और समाज भी सुमार्ग पर अग्रसर हो सके। मनुष्य स्वभाव से ही अनुकरणशील प्राणी है। दूसरों को कोई शुभ काम करता देखकर उसके मन में भी वैसा ही काम करने की इच्छा स्वतः उत्पन्न होती है। यही मूल कारण था कि सामूहिक आयोजनों के रूप में पर्वोत्सवों का प्रचलन किया गया।

यहाँ स्पष्ट शब्दों में पर्वों की उपयोगिता समझाते हुए महर्षि कात्यायन कहते हैं कि लोकमानस के परिष्कार हेतु, सत्प्रवृत्ति विस्तार हेतु, श्रेष्ठ परंपरा स्थापना हेतु ही पर्वों का विधान देवसंस्कृति में रखा गया है। इनसे देव शक्तियों का पूजन, जन-साधारण के पारस्परिक सम्मिलन एवं लोकशिक्षण का त्रिविध प्रयोजन पूरा होता है। यह व्यवस्था इतनी सुनियोजित एवं वैज्ञानिक है कि इसकी उपादेयता से इंकार नहीं किया जा सकता। समाज के ढाँचे को सुव्यवस्थित बनाए रखने में पर्वों ने बड़ी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

वसंतपंचमी दिव्या शिवरात्रिश्च होलिका।

सा रामनवमी पुण्या गायत्रीजयघोषिणी ॥ ४६ ॥

गुरुपूर्वापौर्णमासी श्रावणी च तथैव सा।

कृष्णजन्माष्टमी मान्या विजयादशमी तथा ॥ ४७ ॥

दीपावलीति सर्वेषु दशानामेव मुख्यतः।

महत्त्वं वर्तते तेन सोत्साहं पर्व मन्यताम् ॥ ४८ ॥

भावनापूर्वकं यत्र मानितानि समान्यपि।

इमानि तत्र संस्कार भावनोदेति चान्ततः ॥ ४९ ॥

सत्प्रवृत्तुदयश्चापि जायते मानवेषु सः।

प्रति व्यक्ति समाजं च यस्यापेक्षा मता बुधैः ॥ ५० ॥

टीका—वसंतपंचमी, शिवरात्रि, होली, रामनवमी, गायत्री जयंती, गुरुपूर्णिमा, श्रावणी, जन्माष्टमी, विजयादशमी, दीपावली

इन दस का विशेष महत्व है, अतः पर्वों को सोत्साह मानना चाहिए। इन्हें जहाँ भावनापूर्वक मनाया जाता रहता है, वहाँ सुसंस्कारिता की उमंगें उठती रहती हैं और सत्प्रवृत्तियाँ पनपती रहती हैं, जिसकी आवश्यकता प्रत्येक व्यक्ति व समाज के लिए अनिवार्यतः होती है ॥ ४६-५० ॥

धर्म-धारणा को हर किसी के गले मात्र उपदेशों से नहीं उतारा जा सकता। व्यक्ति को अध्यात्म का मर्म समझाने, सही शिक्षा देने और सन्मार्ग पर चलाने का ऋषि प्रणीत मार्ग है धार्मिक कथाओं के कथन-श्रवण द्वारा सत्संग एवं पर्व विशेषों पर सोद्देश्य मनोरंजन। त्यौहार-व्रतोत्सव यही प्रयोजन पूरा करते हैं। पर्व-त्यौहार जन-जन में नैतिकता व सच्चरित्रता के भावों को जन्म देकर सांस्कृतिक पुनरुत्थान में सहायक भूमिका निभाते हैं।

उच्चस्तरा लोकशिक्षा समारोहसुयोजनैः।

जायते च प्रभावेण ह्येतेषां बहवस्त्वह ॥ ५१ ॥

फुल्लंति कुसुमानीव येऽविकासस्थिता नराः।

कथानां च पुराणानां महत्त्वं घटते ततः ॥ ५२ ॥

टीका—समारोह आयोजनों के माध्यम से उच्चस्तरीय लोकशिक्षण होता रहता है, तो उस ऊर्जा के प्रभाव से प्रभावित अनेकों अविकसित कलियों को भी पुष्पवत् खिलने का अवसर मिलता रहता है। कथा-पुराणों का उस दृष्टि से बहुत महत्व है ॥ ५१-५२ ॥

कीर्तनायोजनान्यत्र संगीतप्रमुखानि हि।

भवन्ति तस्य लोकस्य रञ्जनेन सहैव तु ॥ ५३ ॥

लाभः समन्वितो लोकमंगलस्यैष प्राप्यते।

धर्मप्रचारकेष्वत्र देवेषु च महर्षिषु ॥ ५४ ॥

अधिकैः कीर्तनस्यैषा संगीतस्यापि चाश्रिता।

विधा प्रभाविनी लोकशिक्षणे सरला च या ॥ ५५ ॥

टीका—कीर्तन-आयोजन संगीत प्रधान होते हैं और उनमें लोकरंजन के साथ लोकमंगल का समन्वित लाभ मिलता है। देवताओं, ऋषियों और धर्म-प्रचारकों में से अधिकांश ने संगीत कीर्तन की विधा को अपनाया और कथा-पुराण शैली का आश्रय लिया। लोकशिक्षण की दृष्टि से यह सरल और प्रभावी माध्यम है ॥ ५३-५५ ॥

नीतिधर्मसदाचाराद्युपयोगित्वमत्र तत्।

कथाऽऽख्यानदिभिर्नूतं जायते तु गृहे गृहे ॥ ५६ ॥

उपायाः सर्व एवैते युज्यन्ते लोकशिक्षणे।

सार्वभौमे ततो ज्ञेयान्येतान्यत्र समान्यपि ॥ ५७ ॥

टीका—घरों में कथा-कहानियों के द्वारा नीति, धर्म, सदाचार की उपयोगिता हर घर-परिवार में प्रकट होती रहती है। अस्तु उपायों को भी सार्वजनीन लोकशिक्षण के रूप में प्रयुक्त किया जाता है ॥ ५६-५७ ॥

दृश्य-श्रव्य साधन एवं सामूहिक मिलन-आयोजन जनमानस के परिष्कार की दिशा में एक बड़ी भूमिका निभाते हैं। व्यक्ति अपने वास्तविक रूप में उत्कृष्टता का पक्षधर है। स्रष्टा की सर्वश्रेष्ठ कृति होने के नाते आदर्शवादिता, श्रेष्ठता की दिशा में अग्रसर होना ही उसकी अभिलाषा रहती है, किंतु यह अधिकांश में प्रसुप्त स्थिति में होते हैं। स्वभावतः जनमानस अनुकरणप्रिय होता है। अनगढ़ व्यक्ति पतनोन्मुख मात्र अनुकरण के कारण होता है। यदि उसे सही दिशा दी गई होती श्रेष्ठता का, शालीनता का पक्षधर सुसंस्कृत वातावरण मिला होता, तो वह भी अपने कुसंस्कारों की मलीनता धोकर ऊर्ध्वगामी हो सकता था। कथाओं को सुनना-सुनाना, पर्वोत्सवों को मनाना इसी उद्देश्य से देवसंस्कृति की आचार संहिता में सम्मिलित है कि वह जन समुदाय को लोकमंगल की ओर प्रवृत्त करता है।

अन्यान्य शिक्षण की विधाओं के साथ-साथ लोकशिक्षण के निमित्त, सत्प्रवृत्ति विस्तार के निमित्त जैसा वातावरण बनाया जाना अपेक्षित है, वह शब्द शक्ति की विद्या संगीत-संकीर्तन एवं कथा आयोजनों से सरलता से संपन्न किया जा सकता है। धर्मतंत्र से लोकशिक्षण की महत्ता इसी कारण अत्यधिक बताई जाती रही है।

भौतिकानां तथा राजनैतिकानां पुरा युगे।

आर्थिकानामपि क्षेत्रे समस्यास्तास्तु या मताः ॥ ५८ ॥

समाधानाय तासां च ज्ञापितुं ताः समा अपि।

राजसूयादियज्ञानां व्यवस्था महतामभूत् ॥ ५९ ॥

टीका—पुरातनकाल में भौतिक, राजनैतिक, आर्थिक क्षेत्र की समस्याओं के समाधान खोजने-बताने के लिए विशालकाय राजसूय यज्ञों के आयोजन होते थे ॥ ५८-५९ ॥

विपन्नतास्तु धार्मिक्यः सामाजिक्योऽपि ताः समाः।

अभूत्कर्तुं निरस्ताश्च वाजपेयेष्टियोजना ॥ ६० ॥

अतिरिक्तं चाग्निहोत्राज्ञानयज्ञप्रधानता ।

अभूत्तासु नरा एकविचाराः संगता यदा ॥ ६१ ॥

एकप्रकृतयश्चैकलक्ष्यपूर्त्यै ततो ध्रुवम्।

तच्चिन्तनं परिप्रेक्षानिर्धृतिं मृगयन्ति तु ॥ ६२ ॥

विधिं मानवकल्याणकारिणं फलतो भवेत्।

प्रगतेः सार्वभौमाया द्वारं भव्यमनावृतम् ॥ ६३ ॥

निवृत्तेः संकटानां च प्रशस्तोऽध्वा च जायते।

विभिन्नेषु च तीर्थेषु तथा पर्वसु चेदृशाम् ॥ ६४ ॥

यज्ञानां करणस्येयमृषिभिस्तु परंपरा।

दूरदर्शिभिरेतस्माद्धेतोः संचालिता शुभा ॥ ६५ ॥

कुंभपर्वणि तीर्थेषु विभिन्नेषु सचेतनैः।

सम्मेलनैः क्रियन्ते स्म तत्र चायोजितानि तु ॥ ६६ ॥

टीका—धार्मिक एवं सामाजिक विपन्नताओं को निरस्त

४.२६ प्रज्ञोपनिषद्

करने के लिए वाजपेय यज्ञों का प्रचलन था। उनमें अग्निहोत्र के अतिरिक्त ज्ञानयज्ञ की प्रधानता रहती थी। एक विचार के एक स्वभाव के व्यक्ति जब एक लक्ष्य उद्देश्य की पूर्ति के लिए एकत्रित होते हैं, तो उनका चिंतन, पर्यवेक्षण और निर्धारण कल्याणकारी उपाय खोजता है। फलतः सर्वतोमुखी प्रगति का द्वार खुलता है, संकट के निवारण का मार्ग प्रशस्त होता है। विभिन्न पर्वों पर विभिन्न तीर्थों में ऐसे ज्ञान यज्ञ करते रहने की परंपरा दूरदर्शी ऋषियों ने इसी हेतु चलायी। कुंभ पर्वों को ऐसे ही प्राणवान सम्मेलनों के रूप में आयोजित किया जाता था ॥ ६०-६६ ॥

देवसंस्कृति में धर्मानुष्ठानों के रूप में सामूहिक यज्ञायाजनों की महत्ता है। यज्ञ का अर्थ दान, देवपूजन के अतिरिक्त संगतिकरण भी है। संगतिकरण अर्थात् एक उद्देश्य के लिए, एक विचारधारा वाले व्यक्तियों का सोद्देश्य मिलन। यज्ञ में प्रक्रिया भले ही अग्निहोत्र-कर्मकांड के रूप में हो, पर उनके उद्देश्य के अनुरूप उनके स्वरूप में अंतर होता है। सामूहिक संयोजन, जन साधारण का संयुक्तीकरण हमेशा श्रेष्ठ परिणतियाँ अपने साथ लेकर आता है। विधाता की भी सदैव यही इच्छा रही है कि मनुष्य मात्र मिल-जुलकर श्रेष्ठ पथ पर अग्रसर हों।

मेलापकैः क्रियन्ते स्म धार्मिकैर्देवसंस्कृतेः।

उन्नेतेर्हंतवेऽनेके भव्यास्तत्र पुरोगमाः ॥ ६७ ॥

दिनेषु येषु चाभूवन् धार्मिकायोजनानि तु।

स्थाने स्थाने झटित्येषु दिवसेषु तदा तु सा ॥ ६८ ॥

धर्मधृतेः प्रौढताऽथ प्रखरत्वमितस्ततः।

सर्वत्र ददृशे येन सदाचारोऽभिवर्धते ॥ ६९ ॥

टीका—धार्मिक मेले देवसंस्कृति के उन्नयन की आवश्यकता विभिन्न मनोरंजक कार्यक्रमों द्वारा संपन्न करते थे। जिन दिनों ऐसे छोटे-बड़े धर्म आयोजन स्थान-स्थान पर जल्दी-जल्दी होते रहते थे, उन दिनों धर्म-धारणा की सर्वत्र प्रौढता प्रखरता दृष्टिगोचर होती थी, जिससे सदाचार में वृद्धि होती रही ॥ ६७-६९ ॥

अमुकेषु हि तीर्थेषु पर्वस्नानदिनेषु तु।

गमने महत्त्वसंख्यानां दृष्ट्या चैवैतया कृतम् ॥ ७० ॥

धर्मप्रेमाण एतस्मिन् समये स्युरुपस्थिताः।

संख्यायां विपुलायां ते विचाराणां परस्परम् ॥ ७१ ॥

विनिमयेन समर्थेन मार्गदर्शनकेन च।

उद्दिश्य प्रगतिं चाऽत्र कालिकीं किञ्चिदेव च ॥ ७२ ॥

उच्चस्तरं चिंतयेयुः कुर्युर्निर्धारणं तथा।

महत्त्वपूर्णं राष्ट्रं स्यादेकताबद्धमंततः ॥ ७३ ॥

टीका—पर्व-स्नान के लिए अमुक तीर्थों में पहुँचने का माहात्म्य इसी दृष्टि से कहा गया है कि धर्म प्रेमी इन अवसरों

पर बड़ी संख्या में पहुँचा करें और परस्पर विचार-विनिमय एवं समर्थ मार्गदर्शन में सामयिक प्रगति के लिए कुछ उच्चस्तरीय सोचा और महत्वपूर्ण निर्धारण किया करें, जिसके परिणामस्वरूप राष्ट्र एकता के सूत्र में बँधा रहे ॥ ७०-७३ ॥

कार्यान्वितं विधातुं च तद्धि निर्द्धारणं ततः।

समूहसहयोगेन योजनाबद्धरूपतः ॥ ७४ ॥

व्यवस्था संभवेत्तत्र यतः प्राणा इव स्मृता।

समूहशक्तिर्देव्यास्तु संस्कृतेरुत्तमा नृणाम् ॥ ७५ ॥

आधारमिममाश्रित्य दुर्गा तामवतार्य च।

मुक्ता विपद्भ्यो देवास्ते गतं वर्चस्वमाप्नुवन् ॥ ७६ ॥

सत्प्रवृत्तिमिमां कर्तुं स्थिरामुद्बोद्धुमप्यथ।

धर्मोत्सवा महत्त्वेन पूर्णाः सामूहिका मताः ॥ ७७ ॥

टीका—साथ ही उस निर्धारण को कार्यान्वित करने के लिए सामूहिक सहयोग से योजनाबद्ध व्यवस्था भी बन जाया करे। सामूहिकता देव-संस्कृति का प्राण है इसी आधार पर दुर्गा का अवतरण करके देवताओं ने विपत्ति से छुटकारा पाया और अपना खोया हुआ वर्चस्व लौटाया था। इस सत्प्रवृत्ति को बनाए रहने और उभारने के लिए सामूहिक धर्मोत्सवों को अत्यधिक महत्वपूर्ण पाया गया ॥ ७४-७७ ॥

सामूहिक आयोजनों के रूप में यज्ञादि के अतिरिक्त कुंभ मेलों, विभिन्न संस्कारित सिद्धपीठों-तीर्थस्थलों पर स्नानादि के लिए एकत्र होने के पीछे सबसे महत्वपूर्ण सूत्र एक ही रहा है धर्म-धारणा का चहुँ ओर विस्तार। इसके अतिरिक्त ऋषिगणों का चिंतन सांस्कृतिक एकता पर केंद्रित रहा है। भिन्न-भिन्न रीति रिवाज, प्रचलन, परिवेश एवं स्थान विशेष की विशेषता के कारण पायी जाने वाली भिन्नता के बावजूद इस राष्ट्र की एक विशेषता रही है, विभिन्नताओं में भी एकता। जहाँ सुदूर स्थानों से पहुँचे, अगणित व्यक्ति उच्चस्तरीय आध्यात्मिक मार्गदर्शन एक ही जगह बैठ कर प्राप्त करें, वही स्थान आरण्यक-तीर्थ कहलाता था। मात्र कर्मकांड के रूप में चिह्न-पूजा, उस कष्टसाध्य यात्रा का लक्ष्य बनाकर आज की परिस्थितियों में तो विडंबना भर बनकर रह गई है। उस उद्देश्य को भुला दिया गया है, जो कि परमपावन एवं दूरदर्शितापूर्ण था।

धर्मोत्सवस्य शृंगलायां नात्रशैथिल्यमापतेत्।

उद्दिश्यैतद् व्यधुर्ज्ञानसत्रं ते सूतशौनकाः ॥ ७८ ॥

मुनयो मनीषिणस्तत्र सज्ज्ञान - परिपुष्टये।

आययुर्दूरदेशेभ्यस्तथा निश्चित्य शोभनम् ॥ ७९ ॥

स्थानं विशेषमेते च विद्वांसोऽकार्षुरेव तु।

आयोजनानि दिव्यानि चातुर्मासस्य संततम् ॥ ८० ॥

वर्षतौ न्यूनताऽस्त्येव कार्याणां तेन संगता।

तत्रत्य - जनता लाभमध्यगच्छततः सदा ॥ ८१ ॥

टीका—धर्मोत्सवों की शृंखला में शिथिलता न आने पाए इसी उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए सूत शौनक आदि मिल-जुलकर विशालकाय ज्ञान यत्र चलाते रहे हैं। उनमें हजारों मुनि-मनीषी सद्ज्ञान संवर्द्धन के उद्देश्य से दूर-दूर से आकर सम्मिलित होते थे। विद्वान लोग स्थान विशेष का चुनाव करके वहाँ चातुर्मास आयोजन करते थे। वर्षा में काम कम रहने के कारण उन क्षेत्रों की जनता एकत्रित होकर उनका लाभ भी उठाती थी ॥ ७८-८१ ॥

जन चेतना सतत् जाग्रत रहे, सभी देश-क्षेत्रों के प्रतिनिधिगण एक स्थान पर एकत्र होकर विचार विनिमय कर सकें, इस प्रयोजन से ही छोटे क्षेत्रीय धर्मोत्सवों के आयोजनों की आवश्यकता समझी गई थी। इस उद्देश्य के लिए नियत पर्व पर नियत तीर्थ में प्रति वर्ष आयोजन का क्रम बनाया गया, ताकि यह क्रम निरंतर जारी रहे, धर्मधारणा शिथिल न होने पाए। यहाँ पर साधना-अनुष्ठान एवं ज्ञान यज्ञ की द्विविधि प्रक्रिया साथ-साथ चलती थी। सामयिक समस्याओं पर मूर्द्धन्य मनीषी गंभीर विचार-विनिमय कर किन्हीं निर्णय-निष्कर्षों पर पहुँचा करते थे। विद्वत्जन जो निर्धारण करते थे, उसे अपने-अपने क्षेत्र में संपन्न करने का दायित्व सुदूर स्थानों से आए व्यक्ति अपने कंधे पर लेकर प्रयाण करते थे।

सूत शौनिक किन्हीं व्यक्ति विशेषों का नाम नहीं है, अपितु ज्ञानयज्ञ आयोजित करने वाले, प्रश्नोत्तरी के माध्यम से समस्त समस्याओं का हल अध्यात्म दर्शन के प्रतिपादनों की सहायता से समझाने वाली मनीषी गणों को ही यह नाम दिया गया है। शौनिक जी प्रश्न पूछते थे एवं सूत जी उत्तर देते थे। यह पदवी मनीषा संपन्न कोई भी व्यक्ति धारण कर सकता था अथवा ऋषिगणों द्वारा यह पद उन्हें दिया जाता था। नैमिषारण्य तीर्थ में ऐसे सम्मेलन, उज्जयिनी हरिद्वार, प्रयाग एवं नासिक में कुंभपर्व के अवसर पर ज्ञान सत्रों, विशाल प्रज्ञा आयोजनों का क्रम सतत् चलता रहता था।

आयोजन - क्रमस्यात्र देवसंस्कृति - विस्तरे।

योगदानमभूद् भूय एष विद्यालयेष्वथ ॥ ८२ ॥

गुरुकुलेषु समेष्वेव पाठ्यमानस्य मन्यताम्।

पाठ्यक्रमस्य तुल्योऽयमायोजनबृहत्क्रमः ॥ ८३ ॥

टीका—देव संस्कृति के विस्तार में आयोजन प्रक्रिया का अत्यधिक योगदान रहा है। इसे विद्यालयों और गुरुकुलों में पढ़ाए जाने वाले पाठ्यक्रम के समतुल्य ही समझा जाना चाहिए ॥ ८२-८३ ॥

सेवानिवृत्त - निश्चिंता व्यक्तयोऽर्हन्ति कर्मणः।

संपादयितुमिमं पाठ्यक्रमं नियमतोऽनिशम् ॥ ८४ ॥

आरण्यकेषु गत्वा च गुरुकुलेष्वपि सक्षमाः।

वातावृतौ शुभायां ते वास - लाभं समर्जितुम् ॥ ८५ ॥

व्यस्तैर्न पुरुषैरेतच्छक्यं कर्तुं सदैव च।

जन-जागृतिहेतोश्च जगमानामभूततः ॥ ८६ ॥

ज्ञानयज्ञस्य धर्मानुष्ठानानां च परंपरा।

परिणामः शुभश्चास्या दृष्टः सर्वैरपिस्वयम् ॥ ८७ ॥

टीका—निवृत्त-निश्चिंत व्यक्ति आरण्यकों एवं गुरुकुलों में प्रवेश पाकर नियमित रूप से अधिक समय तक पाठ्यक्रम संपन्न कर सकते हैं और श्रेष्ठ वातावरण में देर तक निवास करने का लाभ उठा सकते हैं, किंतु व्यस्त लोगों के लिए वह सदा संभव नहीं हो पाता। इसलिए जन-जागरण के लिए चलते-फिरते समय-समय पर होने वाले ज्ञान यज्ञों-धर्मानुष्ठानों की परंपरा चली। इसका सत्परिणाम भी देखने को मिला ॥ ८४-८७ ॥

सांस्कृतिक चेतना का आलोक दिग-दिगंत में फैले, इस उद्देश्य से देव संस्कृति के निर्धारण अद्वितीय हैं। बालकों के नव निर्माण हेतु गुरुकुलों के समकक्ष ही निवृत्त व्यक्तियों के लिए आरण्यकों का प्रावधान है, जिसमें ऐसे व्यक्ति जो स्थाई रूप से समय दे सकने की स्थिति में हैं, पठन-पाठन की धर्मतंत्र से लोकशिक्षण की व्यवस्था निभाते हैं। जो व्यक्ति अधिक समय नहीं दे सकते, उनके लिए आंशिक समयदान के रूप में प्रज्ञा आलोक विस्तार का प्रावधान है। ऐसे व्यक्ति जो कहीं आ जा नहीं सकते, उन बादलों की तरह संत-परिव्राजक स्वयं पहुँचकर अलख जगाते, प्रसुप्त चेतना को झंकृत करने का कार्य क्षेत्रीय आयोजनों धर्मानुष्ठानों के माध्यम से अपनी मुखर वाणी एवं संकीर्तन यज्ञायोजनों आदि के द्वारा संपन्न करते थे।

आज की परिस्थितियाँ भी ऐसी हैं, जिसमें ऐसे अग्रदूतों की आवश्यकता है, जो युग परिवर्तन प्रक्रिया के कार्यान्वयन हेतु अग्रदूत की भूमिका निभा सकें, युग की पुकार सुनते हुए स्वयं पार उतरने व अनेकों को नाव में बिठाकर पार करने का पुरुषार्थ संपन्न कर सकें।

विधिनोद्देश्यपूर्णं यावदेष क्रमोऽचलत्।

वातावृतौ तु देवत्वं तावच्छत्रायितं ह्यभूत् ॥ ८८ ॥

जनानां जीवने तस्यददृशेऽप्युदगतिः सदा।

प्रमादात्सर्वमेवैतन्निरुद्देश्यामथापि च ॥ ८९ ॥

स्थितिं प्रहसनानां तु याति, सेव च जायते।

परिणतिर्भारभूतानां मनोरंजनकर्मणाम् ॥ ९० ॥

पुरेव कर्तुमुद्देश्यपूर्णमेनं क्रमंबुधाः।

युज्यते, परिवर्त्यश्च कालेऽस्मिन् विद्यतेत्वयम् ॥ ९१ ॥

एतदर्थं च विज्ञास्तु गृहीत्वा दूरदर्शिताम्।

कुर्युर्यत्नं च संस्कर्तुं येनैषा देवसंस्कृतिः ॥ ९२ ॥

पुनः जीव्यादनेनैव जीवितुं युज्यतेऽपि च।

४.२८ प्रज्ञोपनिषद्

कल्याणं भविता तेन मर्त्यमात्रस्य निश्चितम् ॥ ९३ ॥

टीका—जब तक यह सत्र उद्देश्य पूर्ण ढंग से चलता रहा जब तक वातावरण में देवत्व छाया रहा और जन-जीवन में उसका उभार दृष्टिगोचर होता रहा। अब प्रमादवश वह सब निरुद्देश्य और प्रहसन मात्र बनता जा रहा है। फलतः उसकी परिणति भी भारभूत मनोरंजनों जैसी होती जा रही है। इसे बदलने और पुरातनकाल की तरह उद्देश्य पूर्ण बनाने की आवश्यकता है। विज्ञजनों को इसके लिए दूरदर्शिता अपनाकर सुधारने का प्रयत्न करना चाहिए। देवसंस्कृति का पुनर्जीवन इसी प्रकार बन पड़ेगा। तभी मानव मात्र का कल्याण हो सकेगा ॥ ८८-९३ ॥

पर्व, संस्कार, सामूहिक, धर्मानुष्ठान, धर्म धारणा का प्रसार-विस्तार परिब्रज्या पद-यात्रा, संस्कृति के इन सभी उपादानों के मूल में जो तत्त्वदर्शन था, उसका उद्देश्य था सत्प्रवृत्तियों से भरा उत्कृष्ट वातावरण-मानव में देवत्व एवं धरती पर स्वर्ग का अवतरण। इन दिनों जो परिस्थितियाँ दृष्टिगोचर हो रही हैं, वे संस्कृति के शाश्वत मूल्यों के प्रति अनास्था की ही परिणतियाँ हैं। उद्देश्य को भूलकर मात्र चिह्न पूजा तक सीमित मानव समयक्षेप एवं अनावश्यक धन खर्च करता तो देखा जा सकता है, पर कलेवर में प्राण न होने के कारण उसके परिणाम हाथ लगते नहीं। फलतः

निराशा हाथ लगती व नास्तिकता बढ़ती चली जाती है। समय की आवश्यकता है कि संस्कृति की अवधारणाओं को सोद्देश्य बनाकर जन-जन के गले उतारा जाए, ताकि मानव जाति आस्था संकट की विभीषिका से उबर सके।

तृतीयस्य दिनस्येदं मार्गदर्शनमुत्तमम्।

जातं रुचिकरं तेषां सर्वैस्तैर्निश्चितं ततः ॥ ९४ ॥

निवृत्यातो विधास्यामः कार्यक्षेत्रेषु स्वेषु तु।

धर्मायोजन कार्याणि सोद्देश्यानि तथैव च ॥ ९५ ॥

जनजागृतिजं पुण्यलाभं प्राप्स्याम उत्तमम्।

प्रसन्नश्चांतरात्मा स्याज्जनता सेविता भवेत् ॥ ९६ ॥

टीका—तीसरे दिन का यह मार्गदर्शन सभी को बहुत भाया और सभी ने निश्चय किया कि वे लौटने के उपरांत अपने-अपने कार्यक्षेत्रों में धर्मायोजनों का उद्देश्यपूर्ण प्रचलन निर्धारण करेंगे और जन-जागृति का पुण्य लाभ लेंगे, इससे अंतरात्मा तृप्त होगी व जनता-जनार्दन की सेवा भी होगी ॥ ९४-९६ ॥

सत्रे विसर्जिते सर्वे कुटीरांस्तेऽगमंस्ततः।

अभिवादनपूर्वं च सायं संध्यामुपासितुम् ॥ ९७ ॥

टीका—सत्र का विर्सजन हुआ। लोग अभिवादनपूर्वक सायंकाल की क्रिया-प्रक्रिया को संपन्न करने के लिए अपने-अपने निवास-कुटीरों में चले गए ॥ ९७ ॥

॥ इति श्रीमत्प्रज्ञोपनिषदि देवसंस्कृतिखंडे ब्रह्मविद्याऽऽत्मविद्ययोः, युगदर्शनयुगसाधनाप्रकटीकरणयोः,

श्री कात्यायन ऋषि प्रतिपादिते संस्कारपर्व-माहात्म्य इति प्रकरणो नाम तृतीयोऽध्यायः ॥